18 Arun_review_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 438

आउटकास्ट बॉम्बे : शहर, ग़रीबी और जाति के सवाल

अरुण कुमार

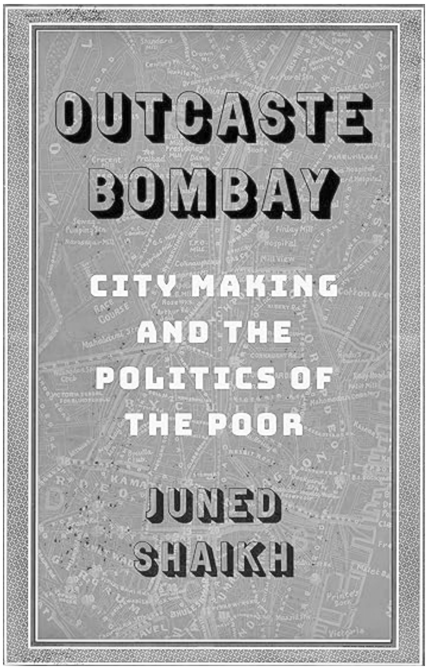

आउटकास्ट बॉम्बे : सिटी मेकिंग ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ द पुअर
ज़ुनैद शेख़
सिएटल : युनिवर्सिटी ऑफ़ वाशिंगटन प्रेस, 2021
पृष्ठ : 227
मूल्य : ₹ 852 (किंडल संस्करण)

ज़ुनैद शेख़ की *आउटकास्ट बॉम्बे* 'अछूतों' के नज़रिए से औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक बॉम्बे के इतिहास का बयान करती है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह किताब भारतीय आधुनिकता, पूँजीवाद, महानगरीयता और वर्ग चेतना के पर्याय की तरह देखे जाने वाले भारतीय शहर बॉम्बे (अब मुंबई) में जाति की गहरी और परतदार उपस्थिति बख़ूबी दर्शाती है। आमतौर पर बंबई शहर के इतिहास को उद्योग और पूँजी, श्रम और काम-काज (वर्क), शहरीकरण और उसके बुनियादी ढाँचे, आधुनिक ज्ञान की निर्मिति और शिक्षा के लिए हुए संघर्षों के हवाले से बताया गया है, जिसमें जाति और जाति आधारित असमानताएँ अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण बिंदु भर रही हैं। लेकिन, पाँच अध्यायों में विभाजित, *आउटकास्ट बॉम्बे* जाति की मौजूदगी की पड़ताल को शहर के राजनैतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक नियोजन के व्यापक फ़लक पर ले जाकर यह दावा करती है कि जातिभेद (हायरार्की) ने बॉम्बे

18 Arun_review_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 439

के मज़दूर वर्ग के आवास और औद्योगिक अर्थव्यवस्था से लेकर शहर में पनपी (मार्क्सवादी) राजनीति की भाषा और (दलित) साहित्य की अंतर्वस्तु तक को आकार दिया है।

सबसे पहले, यह किताब एक विश्लेषणात्मक प्रश्न प्रस्तुत करती है जो अकादमिक लेखन में असामान्य नहीं है। क्या जाति, जो प्राचीन काल या परंपरा से विरासत में मिली भारतीय समाज की एक विशेषता है, आधुनिकता के दबाव में भंग हो गई है? ज़ुनैद शेख़ का सीधा जवाब है 'नहीं'। बकौल शेख़, यूँ तो आधुनिकीकरण के अन्य सिद्धांतकारों की तरह डॉ. बी. आर. आंबेडकर भी मानते थे कि शहरों में जाति अप्रासंगिक हो जाएगी (पृष्ठ 4-5), लेकिन बाद में उन्होंने जाति-भेद से उभरे और कभी न ख़त्म होने वाले उत्पीड़न से बचने के लिए हिंदू धर्म को त्याग दिया और बौद्ध धर्म अपना लिया। शेख़ का तर्क है कि बॉम्बे 'शहर में जाति खुल्लम-खुल्ला ओझल थी' (*कास्ट हिड इन द प्लेन साइट इन द सिटी*), और अक्सर वर्ग और आधुनिकता की आड़ में अपना काम करती थी (पृष्ठ 5)। जाति की (अ) स्पष्ट उपस्थिति ही भारतीय आधुनिकता और शहराती अनुभव की एक विशेषता है।

समाजशास्त्री सतीश देशपांडे, अर्थशास्त्री अश्विनी देशपांडे, और मानवशास्त्री अजंता सुब्रमण्यम के हालिया अध्ययनों से पता चलता है कि ('ऊँची' जातियों की) सांस्कृतिक पूँजी, योग्यता और रोज़गार की (आभिजात्यवादी) भाषा और माध्यम किस तरह समकालीन शहरी भारत में जाति के सवाल को अदृश्य बना देते हैं। शेख़ का प्रमुख योगदान इन समकालीन शोधों की कालानुक्रमिक और वैचारिक सीमाओं को आगे बढ़ाने में निहित है जो बताता है कि बीसवीं शताब्दी की शुरुआत से ही जहाँ एक तरफ़ शहर निर्माण-योजना, वर्गीय राजनीति और मार्क्सवादी लेखन की प्रक्रियाएँ जाति पर एक क़िस्म की पर्देदारी करती दिखती हैं। वहीं दूसरी तरफ़ बॉम्बे की झुग्गी-झोपड़ियाँ, दलित साहित्य और मार्क्सवादियों की किताबें जाति के प्रश्न और दलितों के जातिगत अनुभव से ओत-प्रोत नज़र आती हैं।

शेख़ की किताब में जो समझदारी बनती है वह जाति को केवल एक सामाजिक और धार्मिक (पवित्रता-प्रदूषण अनुष्ठान) पदानुक्रम के सीमित रूप में नहीं, बल्कि राजनीतिक अर्थव्यवस्था में निहित संस्था की तरह देखती है। एक ऐसी संस्था जो सार्वजनिक संसाधनों, रोज़गार, आवास, और शिक्षा के अवसर और वितरण को सिलसिलेवार प्रभावित करती है। शेख़ ज़ोर देकर कहते हैं कि शहर में जाति और वर्ग दोनों मिलकर काम करते हैं। जाति ने वर्ग आधारित शहरी आवास निर्माण और भाषा के अंदर अपनी एक जगह बना ली और वर्ग ने जाति को अदृश्य और नक़ाबपोश बना दिया (पृष्ठ 11-15)। यद्यपि जाति और पूँजीवाद के पूरक अंतर्संबंधों पर राजनारायण चंदावरकर अपनी प्रसिद्ध किताब *द ओरिजिंस ऑफ़ इंडस्ट्रियल कैपिटलिज़म इन इंडिया* में काफ़ी पहले टिप्पणी कर चुके हैं, शेख़ उनके तर्कों को नए और पुरज़ोर तरीक़े

18 Arun_review_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 440

से पेश करते हैं : पूँजीवाद (एक आधुनिक परिघटना) और जाति (एक प्राचीन सामाजिक संस्था) एक-दूसरे के विरोधी नहीं रहे हैं। वास्तव में,भारत में पूँजीवाद ने जाति का सहारा लिया, चाहे उसे कपड़ा उद्योग के लिए पूँजी जमा करना हो या ग़रीब मज़दूरों के लिए आवास की व्यवस्था करनी हो। इतना ही नहीं, जाति ने शहर की वर्गीय राजनीति और सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी बहुस्तरीय मौजूदगी दर्ज की थी। बहरहाल, अब हम इस पुस्तक के उन दो चुनिंदा विषयों पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे जिनके ज़रिये शेख़ अपने तर्क को विकसित करते हैं।

शहरी नियोजन, ग़रीबों के आवास और जाति

दो से अधिक अध्यायों में फैला शेख़ का पहला विषय हमें बताता है कि किस प्रकार जाति ने बॉम्बे के शहरी आवास के बुनियादी ढाँचे को आकार देने में मार्गदर्शन किया, और कैसे चॉल और झुग्गी-झोपड़ियाँ अपने आप में जाति का एक ठोस व मूर्त (मेटेरियल) संदर्भ भी बन गईं (पृष्ठ 20)। भले ही चॉल और झुग्गी बस्तियों की भीड़-भाड़, गंदगी और अस्वच्छ होना श्रमिकों की कम आमदनी और महँगे किराए का नतीजा थीं, और ऊँचे किराए की मार को हल्का करने के लिए, बॉम्बे के श्रमिकों ने अपने कमरों को अन्य प्रवासियों के साथ साझा करने की तरक़ीब भी निकाली। लेकिन, शहरी योजनाकारों और तत्कालीन समाजशास्त्रियों ने लगातार इन बेतरतीब और अस्वच्छ मोहल्लों और चॉलों की चारित्रिक निशानदेही जाति और समुदाय के आधार पर ही की। दरअसल, शेख़ बॉम्बे में श्रमिकों के आवास को एक बाज़ारू वस्तु या उत्पाद (कमोडिटी) के रूप में दिखाना चाहते हैं जिसके लिए श्रमिक किराया देता है (पृष्ठ 28) और फिर किराया कम करने के लिए अपने कमरे को दूसरे श्रमिकों के साथ साझा करता है (पृष्ठ 110-11)। शेख़ यह तो परिभाषित करते हैं कि इस बाज़ारू वस्तु का स्वरूप (अर्थात् इसका निर्माण और आकार) क्या था और विभिन्न जातियाँ इस वस्तु में किन परिस्थितियों में निवास करती थीं, पर वह इस बात की पड़ताल नहीं करते कि इस *वस्तु* के होने के मतलब और मायने क्या थे? क्या यह वस्तु श्रमिकों के लिए कभी घर का दर्जा ले पाई? और यदि हाँ, तो कैसे? या, क्या श्रमिक हमेशा शहर में प्रवासी के रूप में रहते थे, जो अपने घरों को बनाने और निवेश करने में रुचि नहीं रखते थे, जैसा कि बॉम्बे के वास्तुकार, क्लाउड बैटले ने टिप्पणी की थी (पृष्ठ 44)? शेख़ दिखाते हैं कि कैसे झुग्गी-झोपड़ियों के विध्वंस, निष्कासन, विस्थापन, किराए में वृद्धि और अवैध निर्माण के डर ने आवास के सवाल को दलितों की एक राजनीतिक माँग बना दिया और साथ-ही साथ उनके साहित्यिक लेखन को आकार भी दिया। लेकिन इसका मतलब यह भी था कि इस वस्तु पर श्रमिक-अधिकार हमेशा ही मिथक मात्र था, भले ही मज़दूर उस पर अपना हक़ जताने के लिए एक रक़म ख़र्च करते थे। औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक शहरी योजनाकारों (जैसे द सिटी ऑफ़ बॉम्बे इंप्रूवमेंट ट्रस्ट, 1898) की आँखों में ये झुग्गी-झोपड़ियाँ हमेशा चुभती

18 Arun_review_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 441

रहीं और इनके हिसाब से ये झुग्गियाँ घर और निवास की परिभाषा से बिल्कुल विपरीत थीं। वो इन्हें बीमारी, गंदगी और पतन का केंद्र मानकर इनको हटाना चाहते थे। मसलन, ट्रस्ट ने मार्च 1901 तक 14413 परिवारों को इन बस्तियों से हटा दिया (पृष्ठ 31)। फिर भी श्रमिक इन स्थानों को न केवल जाति और वर्ग के आधार पर, बल्कि धर्म, क्षेत्र, मोहल्ले और व्यवसाय आदि की आत्मीयता और सामाजिक संबंधों के चश्मे से देखते थे। पुस्तक में इन सामाजिक व भावनात्मक संबंधों और अनुभवों को विश्लेषणात्मक श्रेणियों (एनालिटिकल केटेगरी) के रूप में ज़्यादा उजागर नहीं किया गया है जिसकी शायद थोड़ी ज़रूरत थी। वस्तु से घर बनने के बीच की दूरी और इसे तय करने की जद्दोजहद को इतिहासबद्ध करने के लिए नए प्रकार के स्रोतों को पढ़ने की आवश्यकता है, जैसे छोटी अदालतों के मुक़दमें, गिरगाँव पुलिस थाने में दर्ज शिकायतें जिनको समकालीन अख़बार *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* कभी-कभी छाप देता था। बहरहाल, शेख़ बताते हैं कि झुग्गी-झोपड़ियों के विध्वंस, विस्थापन और औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक राज्य के झुग्गी सुधार क़ानूनों के बावजूद भी झुग्गियों की संख्या 88 (1957) से बढ़कर 619 (1981) हो गई।

मार्क्सवाद और दलित साहित्य

इस पुस्तक का नवीनतम और सिलसिलेवार वैचारिक योगदान है मराठी मार्क्सवादी पर्चे-पोथियों, साहित्यिक रचनाओं ख़ासकर उपन्यासों और कहानियों, तथा अन्य सांस्कृतिक ग्रंथों के अध्ययन से जाति की शहरी संरचना की समझ बनाना और दलित राजनीतिक संस्कृति और साहित्य के इतिहास के शहराती पहलू को उजागर करना। शेख़ दिखाते हैं कि कैसे 1920 और 30 के दशक के बीच बॉम्बे में बढ़ती मज़दूर वर्ग की राजनीति के आलोक में मार्क्सवाद और साम्यवाद के विचारों का अनुवाद और देशीकरण किया गया। अंतर्राष्ट्रीय मार्क्सवाद के अनुवाद और प्रसारण के लिए भारतीय मार्क्सवादियों को जाति-सोपान और असमानता के सवाल का सामना करना पड़ा, जिसे अब तक उन्होंने अपने राजनीतिक सिद्धांत में वर्ग की वैचारिक शब्दावली की खोली में छिपाया हुआ था। साम्यवादियों ने मार्क्सवादी ग्रंथों के अनुवाद करते समय भी एक दिलचस्प भाषा-सोपान को जन्म दिया जिसमें अमूर्त वैचारिक शब्दावली के लिए संस्कृत-मराठी शब्दों का प्रयोग किया गया और व्यवहार और अनुभवपरक पदों के लिए शहरी लोक भाषा और पद (जिसमें जाति सूचक शब्दों का भी उपयोग हुआ) (पृष्ठ 66-67)। मसलन, अनुवादित *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में, ग़ैर-मज़दूर उत्पीड़ित वर्गों और मध्ययुगीन (यूरोप के) उत्पीड़ित वर्गों के लिए *दलित* शब्द का प्रयोग किया गया, किंतु मज़दूर वर्ग से निचले तबक़े के समकालीन शहरी ग़रीबों (लुंपेन-प्रोलितारिअत) के लिए *मवाली* का (पृष्ठ 69)। शेख़ ने (अँग्रेजीदां पाठकों के लिए) उन मराठी दलित कम्युनिस्टों (अन्नाभाऊ साठे) और मार्क्सवाद से प्रभावित दलित लेखकों (बाबूराव बागुल) की दुनिया को भी उजागर

18 Arun_review_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 442

किया है, जिन्होंने न केवल साम्यवाद को दलित श्रमिकों की जीवित वास्तविकता (नौकरी की अनिश्चितता, अपमान, अस्वच्छ आवास की स्थिति, घर से निष्कासन का डर) के क़रीब लाया बल्कि भारतीय मार्क्सवाद को भी गहराई और विस्तार दिया। साथ ही साथ, अभिजात्य मराठी साहित्य के समानांतर दलित साहित्य को भी खड़ा किया जिसमें मार्क्सवाद का प्रभाव साफ़ तौर से दिखता है (पृष्ठ 139)। शेख़ का तर्क है कि उत्तर-औपनिवेशिक दलित साहित्य पर एक तरफ़ तो वामपंथी राजनीति के क्रांतिकारी विचारों का प्रभाव था जो कि औपनिवेशिक पूँजीवाद को उखाड़ फेंकना चाहता था, वहीं दूसरी तरफ़ जाति-विरोधी आंदोलन का, जो कि जातीय पदानुक्रम को उलटने पर बल देता था। यही साहित्य दलित पैंथर्स जैसे राजनीतिक आंदोलनों का वैचारिक चारा बना (पृष्ठ 119,125)।

यद्यपि इन दोनों क्रांतिकारी आंदोलनों ने बॉम्बे की राजनीतिक और सांस्कृतिक दुनिया पर एक अमिट छाप छोड़ी, पर दोनों ही आंदोलन अपनी सफलता के शीर्ष पर पहुँचने से पहले ही बिखरने भी लगे। बंबई की 1982-84 की मिल हड़ताल ने जहाँ एक तरफ़ वामपंथी राजनीति पर रोक लगाई और वहीं दूसरी तरफ़ 1970 के दशक में दलित राजनीति, मार्क्सवाद और आंबेडकरवाद के अंतर्विरोधों को आपस में ना समेट पाने के कारण, विखंडित होने लगी (पृष्ठ 168-69)। एक प्रश्न है जो अंतिम अध्याय को पढ़ने के बाद से ही मेरे मन में कौंध रहा है : क्या जाति की राजनीति वर्ग की राजनीति के साथ अंततः असंगत है?

अंत में, मैं इस सवाल पर लौटना चाहूँगा कि हिंदुस्तानी महानगर आधुनिकता और शहरातीपन के उस चोग़े को कैसे पहनते हैं जो जाति की खुली और सर्वव्यापी मौजूदगी को अदृश्य बना देता है। इस बात की पड़ताल करने के लिए शेख़ को उन साहित्यों और लेखों पर भी प्रकाश डालना चाहिए था जो शहरी जीवन के चकाचौंध को भी दर्शाते हैं और साथ ही साथ जाति छिपाने की प्रक्रिया का निर्माण भी करते हैं। शेख़ की किताब पढ़ने के बाद हमारी कई चालू मान्यताएँ ध्वस्त हो जाती हैं, जैसे सिर्फ़ गाँव जाति के टीले होते हैं जबकि शहर जाति से परे प्रगति का प्रतीक हैं, या पूँजीवाद की संरचना जाति को विलुप्त कर देगी, अथवा वर्गीय असमानता जाति असमानता से कोसों दूर तक जाती है, वग़ैरह, वग़ैरह। *आउटकास्ट बॉम्बे* हमें प्रेरित करती है कि हम बंबई शहर, दलित साहित्य, और भारतीय मार्क्सवाद की एक नई समझ पैदा करें और शहराती आधुनिकता को एक नई दृष्टि से समझें।